कबीर-काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता

Key Words: कबीर, भक्तिकाव्य, भारतीय समाज, सामाजिक भेदभाव।

ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net
A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research
शोध संचयन

भक्तियुगीन कवि कबीर का समाज बोध अत्यंत घना था। कबीर ने संवेदना के धरातल पर समाज के ऐक्य को स्थापित करने की चेष्टा की। सभी प्रकार की सामाजिक विसंगति का गहरा एहसास और भेदभाव के दंश ने कबीर को कुछ अर्थों में अस्वीकार वादी और विद्रोही बना दिया। उनका विद्रोही स्वर, सामाजिक विध्वंस की बजाय एक सामाजिक व्यंग्य का सृजन करता है जो समाज को इन बुराइयों से दूर करने के लिए प्रेरित करता है। प्रस्तुत शोध आलेख कबीर काव्य के इस पक्ष से सामाजिक प्रासंगिकता का एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करता है।

डॉ. संगीता लाल
A-684, सेक्टर-4 बसंत खंड
गोमतीनगर एक्सटेंशन
लखनऊ-226010
मो. 9336653057
ई-मेल : brijlal.ips77@gmail.com

कबीर का व्यक्तित्व बहुआयामी और विशद है। कबीर के अध्येताओं, कबीर पंथी लोगों ने और साधारण लोगों ने कबीर के अलग-अलग चित्रों से संत साहित्य को समृद्ध किया। मध्यकाल में इतना बहुआयामी व्यक्तित्व किसी का न था। डॉ. शुकदेव सिंह लिखते हैं, ''जीवन की ओर से नहीं, मृत्यु की ओर से संसार को देखने वाले कबीर कई तरह से पढ़े गये। मठों में बाबा की तरह जाने कब से, पंथों में पंथ गायक की तरह, ग्रंथों में ग्रंथों के विरोधी के रूप में, अपने धर्म में न मुसलमान और न ही हिन्दू की तरह, गृहस्थों में साधु और साधुओं के बीच 'पकरि जुलाहा कीन्हा' के व्यथावाचक की तरह, सूफियों में सूफी, शहीद, मलामाती पीर, मुर्शिद की भांति। अगर कंठ में सुर हो, तान हो, लय हो तो, सोलह रागों के राग, रागनियों, रंग और ठाट के सारे तुरुप में एक अनोखे निरगुनियां की पहचान लिए हुए। खुद कामगार, दस्तकार लेकिन भिखारियों और साधुओं में कभी मांगते हुए और कभी देते हुए विरक्त की तरह।'' इस तरह से कबीर के कई रंग हैं जिनसे लोक रंगा हुआ है। कबीर और रविदास ऐसे संत थे जिन्होंने श्रम की महत्ता को समाज में स्थापित किया। 'कबीर करघे पर बैठकर इंगला-पिंगला का ताना बुनते रहे, सुषमन तार की चादर बनाते रहे।' कबीरदास जी भक्तिकाल के पुरस्कर्ता हैं। डॉ. श्यामसुंदर दास लिखते हैं, 'कबीरदास जी के पूर्व के किसी भक्त की वाणी नहीं मिलती। हिंदी साहित्य के इतिहास में वीरगाथा काल की समाप्ति पर मध्यकाल का आरंभ कबीरदास जी से होता है, अतएव इस काल के वे आदिकवि हैं।' कबीर इतने विनम्र थे कि अपने द्वारा किये गये किसी कार्य का श्रेय भी खुद नहीं लेते थे। वे सारे कार्य का श्रेय निर्गुण राम जिन्हें वह हरि भी कहते हैं, को दे डालते हैं -

''ना कुछ किया न करि सक्या, नां करणे जोग शरीर।
जे कछु किया सु हरि किया, ताथै भया कबीर कबीर।।''

कबीरकालीन समाज की दशा अत्यन्त सोचनीय थी। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था जातिगत अत्याचार, वंशगत ऐश्वर्य-मद एवं ऊँच-नीच की भावना पर आधारित थी। धर्म के नाम पर पूरा समाज पाखण्ड और बाह्याचार से ग्रस्त था। सारा समाज मिथ्या प्रपंच में अनुरक्त था। इस प्रकार भयानक सामाजिक वैषम्य था। सर्वत्र अहंकार, अज्ञान, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड और धूर्तता व्याप्त थी। मानवीय चेतना का जीवन पक्ष लुप्त हो चुका था। अतः संत कबीर ने इस जर्जर समाज व्यवस्था पर निर्ममतापूर्वक प्रहार करते हुए मानवीय मूल्यों पर खरी उतरने वाली सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक शिक्षा दी। उन्होंने इस जड़ता को नकारते हुए आडम्बरहीन समाज रचना का प्रयास किया। 'सबद' को देख लेने

के बाद कबीर को लगा कि सभी अंधे हैं। जो शब्द को देखता है, वह बोलता नहीं, गाता है, गुनगुनाता है। भीतर से समझने पर उसी शब्द की गवाही में कुछ गुन-गुन बजता है। वे 'साखी' बोलने लगते हैं। भीतर एक देखे हुए सच की गवाही साखी। फिर 'सबद' बोलते हुए उन्हें लगा कि जो मुझे सुनता है, वे सब साधु हैं, भाई हैं। जो पंडित 'वाद' बोलता है, वह झूठा है। पंडित अपनी नहीं कहता। 'कागद' की लेखी कहता है। मैं तो 'आंखिन की देखी' कहता हूं। पोथी पुरान तो सब दूसरे की कहते हैं। इस समझ के आते ही कबीर बोलने लगते हैं। उन्हें सुनने के लिए लोग आने लगते हैं। जुलाहे की जुबान का ये दम-खम मंदिर-मस्जिद के पहरेदारों को डराता है।''

कबीर के समय में एक ओर तथाकथित साधु-सन्यासियों की मण्डली धर्म के नाम पर पाखण्ड और मिथ्याचार को बढ़ावा दे रही थी तो दूसरी ओर सारा समाज वर्ण-व्यवस्था तथा जातिगत श्रेष्ठता एवं हीनता की जकड़बन्दी का शिकार हो रहा था। संत कवियों का युग मूलतः सामाजिक वैषम्य, वर्गगत विभेद, मिथ्याचार बहुलता एवं साम्प्रदायिक मनोमालिन्य प्रधान था। माना जाता है कि हिन्दू धर्म में वर्णाश्रम के जो नियम समाज में शान्ति, मर्यादा और व्यवस्था के स्थापनार्थ निर्मित थे, वे ही वैषम्य और क्रूरता के विधायक बन गये। ऐसी विस्फोटक स्थिति में इस अन्याय-मूलक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने की इच्छा रखने वाली वे सामाजिक शक्तियाँ भी जागृत हो रही थीं जो वर्णाश्रम की दीवारों को ध्वस्त करके दमित-प्रताड़ित मानव समुदाय को सामाजिक वैषम्य की कारा से मुक्त करना चाहती थीं।

तत्कालीन धर्मान्धता और वर्ण वैषम्य का निर्मलन एवं साम्प्रदायिक सौहार्द्र तथा सामाजिक साम्य के अभिनव दृष्टिकोण की प्रतिस्थापना का सशक्त आन्दोलन का बीड़ा संत कबीर ने उठाया। संत कबीर ने जातिगत श्रेष्ठता के सिद्धांत को स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया। ब्राह्मणों की तथाकथित श्रेष्ठताऔर कर्महीनता पर प्रहार किया। उन्होंने जातिगत भेदभाव और छुआछूत आदि के विरुद्ध विद्रोह का प्रबल स्वर ऊँचा किया और पण्डितों के भेदभावमूलक व्यवहार का उपहास किया। कबीरदास कहते हैं कि हे! पंडित तुमको अपने विषय में तो कुछ पता ही नहीं है और तुम मुक्ति का मर्म जानने का दावा करते हो -

''चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना। मुक्ति का मर्म उनहु नहिं जाना।
दान-पुन्य उन बहुत बखाना। अपने मरण की खबरि न जाना।।
एक नाम है अगम गंभीरा। तहंवा अस्थिर दास कबीरा।।''

इन्होंने पण्डितों से यह भी पूछा कि जब सब की उत्पत्ति एक ही ज्योति से हुई है तो ब्राह्मण-शूद्र का भेदभाव कैसा? ''जाति-पांति, तीर्थ-व्रत तथा बाह्याडम्बरों का विरोध करते समय कबीर का व्यंग्य अत्यधिक कर्कश तथा तल्ख हो जाता है, जैसे -

जे तूं बांभन बभनी जाया। तौ आन बाट है काहे न आया।
जे तूं तुरुक तुरुकनी जाया। तौ भीतरि खतनी क्यूं न कराया।
कहै कबीर मधिम नहीं कोई। सो मधिम जा मुखि राम न होई।।''

अतः कबीर के समक्ष समाज का विषम आर्थिक ढाँचा विद्यमान था, जिसमें एक ओर असीम वैभव की छत्र-छाया में पलने वाली विलासिता का ताण्डव नर्तन था, तो दूसरी ओर साधारण जनता की कारुणिक रूदन था, जो उन्हें आर्थिक वैषम्य के आधार पर विनिर्मित समाज व्यवस्था के विरोध में तीव्र असन्तोष का भाव व्यक्त करने को प्रेरित कर रहा था, उन सबका निदान हमें संत कबीर के विचारों से स्पष्ट होता है।

संत कबीर सगुण विचारधारा के उपासक न होकर निर्गुण विचारधारा को मानने वाले थे। वे उस पाण्डित्य को बेकार समझते थे, जो केवल ज्ञान का बोध होना सिखाता है, जो मनुष्य को जड़ बना देता है तथा भगवान के प्रेम से वंचित करता है। भगवत्प्रेम पर उनकी दृष्टि इतनी दृढ़ निबद्ध थी कि ढाई अक्षर (प्रेम) को ही वे प्रधान मानते थे। कबीर मानते थे कि जो भी व्यक्ति इस संसार में बिना प्रेम और प्रीति के रह रहा है; उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है -

''जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि भये बेकाम।।''

उनके मत में प्रेम ही सब कुछ है, वेद नहीं, शास्त्र नहीं, कुरान नहीं, जप नहीं, माला नहीं, तस्वीर नहीं, मन्दिर नहीं, मस्जिद नहीं, अवतार नहीं, पीर नहीं तथा पैगम्बर नहीं, यह प्रेम समस्त बाह्याचरों की पहुँच से बहुत ऊपर है। कबीरदास जी ऐसे अमरदेशवा की रचना करते हैं, जहां किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं है। अगर वहां कुछ है तो सिर्फ प्रेम -

''हम वासी उस देश के जहां बारह मास विलास।
प्रेम झरै विकसै कंवल तेज पुंज परकास।
हम वासी उस देस के जहां जातिबरन कुल नाहीं।
सबद मिलावा होय रहा देह मिलावा नाहीं।''

कबीरदास जी की आस्तिक और नास्तिक की परिभाषा मानवता की बृहद डोर से बंधी हुई है। वे नास्तिक उसे मानते थे जो जीव मात्र का आदर नहीं करता है। कबीरदास जी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं -

''कबीर जाके वचन में जीव अनादर होय।
नास्तिक ताको जानिये गुप्त से बड़ा सोय।।''

उन्होंने समस्त व्रतों, उपवासों और तीर्थों को एक साथ अस्वीकार कर दिया। उन्होंने एक निरंजन, निर्लेप के प्रति लगन को अपना लक्ष्य घोषित किया। यह लगन अथवा प्रेम का साधन प्रेम ही है, प्रेम ही साध्य है- प्रेम ही साधना है, व्रत भी नहीं,

मुहर्रम भी नहीं, पूजा भी नहीं, नमाज भी नहीं, तीर्थ भी नहीं।

समाज और धर्म के क्षेत्र में व्याप्त असत्य, कुरीतियों एवं मिथ्या अंधविश्वासों का विरोध ही समाज सुधार में सहायक बन सकता है। अतएव संत कबीर ने उनका कड़ा विरोध किया तथा कड़ी भर्त्सना की। साथ ही इन बुराइयों में लिप्त व्यक्तियों और सम्प्रदायों (धर्मों) को उन्होंने आड़े हाथों लिया। कबीर ने जातिवाद का कड़ा विरोध किया। उन्होंने मानवतावादी दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए कहा कि भगवान की दृष्टि में सब बराबर हैं न कोई छोटा है न बड़ा। उनकी दृष्टि में भगवान की भक्ति में जाति की आवश्यकता नहीं है। भक्ति में पंडित और मुल्लाओं की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं है।

''जो मोहि जाने, ताहि मैं जानौं।
लोक वेद का, कहा न मानौं।।''

उच्च जाति के व्यक्तियों पर तो कबीर खार खाये बैठे हैं। क्रोधावेश में वे कितना मार्मिक व्यंग्य ब्राह्मण तथा तुर्कों पर करते हैं। उनका विचार है कि जाति भगवान ने नहीं स्वार्थी मनुष्य तथा उसके समाज ने बनाई है। कबीरदास जी कहते हैं – ''हे पंडित मन में समझकर देखो। कहो भला छूत कहां से पैदा हुई जिससे तुमने छुआछूत की भावना पैदा कर ली। प्राणवायु, वीर्य और रज इकट्ठे होकर शरीर की रचना शुरू होती है और माता के पेट में बच्चे का शरीर बढ़ता, पकता और पुष्ट होता है। उसके बाद माता के पेट से बच्चा पैदा होकर जमीन पर आता है, फिर छूत कहां से पैदा हो गयी। चौरासी लाख योनियों के असंख्य शरीर सड़-सड़कर मिट्टी में मिलते हैं। उसी एक जमीन रूपी पीढ़े पर प्रकृति ने सबको बैठाया है फिर भला उनमें से किसको अशुद्ध मानकर छूत लगा दी जाये? विचारकर देखो तो भोजन में छूत है, पानी में छूत है, बल्कि छूत से तो सबकी पैदाइश ही है। कबीर साहब कहते हैं कि छूत से वही बचा है जिसका मन विषयासक्ति एवं माया-मोह से रहित है –

पंडित देखहु मन में जानी।।
कहु धौं छूति कहां से उपजी, तबहिं छूति तुम मानी।।
नादे बिन्दे रुधिर के संगे, घटहिं में घट सपचै।।
अष्टकंवल होय पुहुमी आया, छूति कहां ते उपजै।।
लख चौरासी नाना बहु बासन, सो सब सरि भौं माटी।।
एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेत धौं काकी।।
छूतिहिं जेंवन छूतिहिं अंचवन, छूतिहिं जगत उपाया।।
कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया।।''

संत कबीर छुआछूत के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने ब्राह्मणों से पूछा कि पाण्डे छुआ-छूत का विचार तुम क्यों करते हो? तुममें तथा शूद्र में क्या अन्तर है, उनका कथन है-

''एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रूधिर एक गूदा।।
एक बुन्द से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा।।
रजोगुण ब्रह्मा तमोगुण शंकर, सतोगुण हरि होई।।
कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिंदू तुरुक न कोई।।''

हिन्दू-मुसलमान के बीच की खाई को पाटने में कबीर जीवन भर रहे। इनमें से किसी का पक्ष उन्होंने नहीं लिया। दोनों के दोषों को बतलाकर उनके धर्मों में व्याप्त बुराइयों तथा मिथ्या एवं निरर्थक आडम्बरों को त्याग देने का उपदेश दिया। कबीर की यह तार्किकता-बौद्धिकता आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। भारतीय समाज आज भी असमानता, अन्याय, जातिगत भेदभाव, छुआछूत, कर्मकांड, पाखंड और अंधविश्वास में डूबा हुआ है। इसीलिए कबीर और उनका काव्य प्रासंगिक है। ''वे सारी समस्याएं आज भी रूप बदलकर और भी पैनेपन के साथ सारे विश्व में उपस्थित हैं परन्तु सुखद आश्चर्य यह है कि आज भी कबीर वाणी इन सभी समस्याओं की औषधि स्वरूप है और जाग्रत रहकर अपना कार्य कर रही है...अत: उनकी वाणी तब भी, आज भी और भविष्य में भी सभी धर्मों, सभी समाज, समग्र जड़-चेतनमय जगत के लिए प्रासंगिक ही रहेगी।'' डॉ. शुकदेव सिंह जी लिखते हैं, ''इनके पास मेहनत करने वाले हाथ हैं। कविता बोलने वाली जुबान है और किसी भी धर्म के ठेकेदार को दहला देने वाला 'चरित' है।'' शायद इसीलिए कबीरदास जी पिछले छह सौ साल से प्रासांगिक बने हुये हैं।

संदर्भ :

1. भये कबीर कबीर – डॉ. शुकदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण 2005, भूमिका से।
2. वही, पृ. 4
3. कबीर ग्रंथावली – सं. डॉ. श्यामसुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, सं. 2010, पृ. 58
4. वही, पृ. 96
5. भये कबीर कबीर – डॉ. शुकदेव सिंह, पृ. 3
6. बीजक भाग 1 – व्याख्याकार अभिलाष दास, कबीर पारख संस्थान इलाहाबाद, उन्नीसवां सं. 2014, पृ. 166
7. कबीर ग्रंथावली – रामकिशोर शर्मा, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, दसवां सं. 2005, पृ. 95
8. कबीर ग्रंथावली, पृ. 53
9. अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय – पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय सं. 2010, पृ. 42
10. कबीरपंथ : साहित्य, दर्शन एवं साधना – डॉ. उमा ठुकराल, हिंदी बुक सेंटर, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998, भूमिका से
11. बीजक भाग 2 – व्याख्याकार अभिलाष दास, पृ. 680
12. बीजक भाग 1 – व्याख्याकार अभिलाष दास, पृ. 613
13. वही, पृ. 781
14. कबीर ग्रंथावली – कमलापति पान्डेय, शुभदा प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सं. 2014, पृ. 127
15. भये कबीर कबीर, पृ. 3

◆◆◆